भारत में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति

डॉ. विश्वनाथ वर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग

हरिश्चंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.)

E-mail : drvn.verma@gmail.com

Website : www.worldwidehistory.com

भारत में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति

प्रत्येक देश में सामाजिक संगठन, विभाजन एवं स्तरीकरण का स्वरूप उसकी अपनी भौगोलिक परिस्थितियों, जीवन की आवश्यकताओं, सांस्कृतिक परंपराओं और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम होता है। भारत की सामाजिक व्यवस्था की अपनी विशेषता है। भारतीय सामाजिक संरचना का प्राचीनतम् ज्ञात रूप वर्ण व्यवस्था है। भारतीय चिंतकों ने इसे सदैव ही उच्च गौरव और महत्व दिया है। यह भारतीय समाज की आधारशिला है। यदि एक शब्द के द्वारा पूरी भारतीय व्यवस्था का बोध कराना हो तो 'वर्णाश्रम' शब्द का उपयोग किया जाता है। वर्णों की दैवी उत्पत्ति की कल्पना वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता के साथ ही उसकी प्राचीनता की सूचक है। समाज का सदस्य होने पर भी मनुष्य की कुछ ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं जिनका उसके लिए विशेष महत्व होता है। समष्टि रूप में ये आवश्यकताएँ सामाजिक जीवन की मौलिक आवश्यकता बन जाती हैं। इसकी पूर्ति से ही समाज का उत्थान, कल्याण और विकास सुचारू रूप से हो सकता है। इसी के अनुरूप प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाओं में उन कार्यविधियों, उपकरणों, क्रियाओं और व्यवहारों का समावेश है जो समाज के विभाजन के स्वरूप को वैज्ञानिक, दार्शनिक और व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करते हैं। धर्मसूत्रों में वर्ण-व्यवस्था अपने विकसित और सुस्थिर रूप में मिलती है। इसका निर्वाह स्मृतियों में किया गया है। धर्मशास्त्रों के विविध विधानों में वर्ण-व्यवस्था ही प्रमुख आधार है। आश्रम और संस्कारों के अनुष्ठान में ही नहीं प्रशासनिक कार्यों, न्यायालयीय प्रक्रिया और विधि के नियमों में भी वर्ण के आधार पर अंतर देखने को मिलता है। वास्तव में सामाजिक जीवन के विविध पहलू, जो धर्मशास्त्रीय कल्पना के व्यापक आयाम में समाहित हैं, पद-पद पर वर्णभेद के आधार पर अंतर को परिलक्षित करते हैं।

प्राचीन भारत में ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया, जिनके आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ समान रूप से सुलभ हो सकें। जबकि पश्चिमी जगत की संस्कृति में धर्म और राज्य के बीच प्रायः संघर्ष होता रहा है। सामाजिक वर्ग भिन्नता एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विश्व के प्रायः सभी देशों में इसका अस्तित्व बना रहा। परंतु यह भिन्नता कहीं भी इतनी जटिल नहीं रही जितनी भारतीय समाज में। प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का एक स्थायी आधार होते हुए भी इसकी धारणा निरंतर परिवर्तनशील रही है। समाज को निरंतर प्रगतिशील और समयानुकूल बनाने के लिए भारतीय सामाजिक चिंतकों ने कतिपय शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया। वर्ण-व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यों में से एक थी।

व्यक्ति और समाज के संबंधों को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए वर्णों की व्यवस्था की गई। व्यक्ति और समूह के अस्तित्व को मानव जगत् में ही नहीं, देवलोक में भी स्वीकार किया गया। 'ताण्डय ब्राह्मण' में मनुष्य को देवताओं का ग्राम (समूह) कहा गया है (नरो वै देवानां ग्रामः)। मनुष्य को देवताओं का ग्राम इसलिए कहा गया है कि उसमें ऋषि, पितर, देव, असुर और गंधर्व आदि के अंश विद्यमान होते हैं। इस प्रकार मनुष्य में स्वभावतः अपने अंशी या धर्मी की कुछ प्रवृत्तियों का समन्वय होता है। इसी समन्वय के कारण उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है। मनुष्य के द्वारा ही जब समाज की रचना होती है, तो निश्चित ही समाज की उन्नति में मनुष्य की उन्नति भी अनुस्यूत है। समाज की सीमाएँ व्यापक हैं। परिवार, देश, राष्ट्र ये उसी के ही उत्तरोत्तर विकास के परिणाम हैं। सामान्य तौर पर वर्ण- व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है और प्रायः यह समझा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा प्राचीन भारत में समाज को चार वर्णों में विभाजित किया हुआ था।

'वर्ण' का अर्थ

प्राचीन कालीन 'वर्ण' शब्द के अवधारणा की व्याख्या के लिए उसके अर्थ और व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। वर्ण शब्द संस्कृत के 'वृ' धातु से निस्सृत हुआ है। वर्ण शब्द तीन धातुओं से बन सकता है, जिनके अर्थ अलग-अलग हैं। 'वर्ण वर्णने' धातु से 'वर्ण' शब्द वर्णन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसे वर्ण के प्रमुख लाक्षणिक अर्थों, जैसे- व्यवसाय, गुण, सामाजिक परिस्थिति या कर्तव्यों के वर्णन करने के रूप में लिया जा सकता है। 'वर्ण प्रेरणे' धातु से 'वर्ण' का अर्थ प्रेरित करना है अथवा विशिष्ट कर्तव्यों को भलीभाँति पूर्ण करने की प्रेरणा देना है। इसी तरह 'वृञ् वरणे' धातु से वर्ण शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है 'वरण करना' या चुनना, जिसे व्यवसाय चयन के संदर्भ में लिया जा सकता है, क्योंकि वर्ण शब्द का अर्थ सामाजिक वर्ग से लिया गया है। अतः उपर्युक्त संदर्भ में अंतिम धातु से इस शब्द की व्युत्पत्ति उचित प्रतीत होती है।

शब्दकोष में 'वर्ण' के अनेक अर्थ मिलते हैं। क्रिया के रूप में इसका अर्थ रंगना, वर्णन करना, लिखना, चित्रण करना, अंकित करना, प्रशंसा करना, स्वीकार करना है और संज्ञा के रूप में इसका अर्थ आभा, रंग, त्वचा का रंग, जाति, वर्ण, प्रजाति, एक अक्षर ध्वनि, एक शब्द ध्वनि, प्रतिष्ठा, बाह्य स्वरूप, शरीर आवरण और धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'वर्ण' शब्द का अर्थ रंग से लिया गया है। मूइर ने रंग-भेद को वर्ण-व्यवस्था के उद्भव का मूल स्रोत बताया है।

ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग अनेकशः दो परस्पर विरोधी समुदायों यथा- आर्य और दास में क्रमशः श्वेत और अश्वेत रंग (उभौ वर्णावृषिरूग्रः) के आधार पर भेद स्थापित करने के संबंध में इसी ग्रंथ में दस्युओं का वध करके आर्य वर्ण के रक्षार्थ उसका उल्लेख किया गया है। उल्लेखनीय है कि यहाँ के मूल आदिवासियों को आर्य वर्ग शत्रु समझते थे और उनके लिए ऋग्वेद में 'दास' का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है- नुकसान पहुँचाना अथवा नाश करना। 'दास' की व्याख्या निरुक्त में 'दासो दस्यतेरूपदासयति कर्माणि' मिलती है, अर्थात् जिसके कारण रस को नुकसान पहुँचता है अथवा जो कृषि आदि कर्मों को नुकसान पहुँचाता है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। परंतु उनके लिए 'वर्ण' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। बाद के ग्रंथों में इसका प्रयोग स्पष्टतः समाज के आंतरिक-सामाजिक विभाजन वर्ण-व्यवस्था के लिए हुआ है। काठक संहिता में राजन्य और वैश्य के रंगों को क्रमशः धूम्र और शुक्ल बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण के रंग को शुक्ल बताया गया है। छांदोग्य उपनिषद में भी 'वर्ण' शब्द सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है। धर्मसूत्रों में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख चतुर्वर्णों के लिए हुआ है।

कुछ विद्वानों ने वर्ण और जाति शब्दों को एक ही अर्थ में स्वीकार किया है। किंतु प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत सामान्तया चार प्रमुख वर्ण और उन वर्णों के अंतर्गत बहुत सी जातियाँ समाविष्ट हैं। इसी तरह भागवत में कहा गया है कि सृष्टि के आरंभ में सभी मनुष्यों का केवल एक वर्ण था- हंसवर्ण। बाद में स्वभाव परिवर्तन के कारण चातुर्वर्ण्य का जन्म हुआ। मनुवंश में उत्पन्न धृष्ट पुत्र क्षत्रिय से ब्राह्मण तथा नाभाग क्षत्रिय से वैश्य वर्ण का हो गया था।

दरअसल समाज में विभिन्न व्यवसायों का उदय हो जाने के कारण इन व्यवसायों को अपनानेवाले 'गायों की भाँति एक ही स्थान में विश्राम करते थे। एक ही परिवार में पिता वैद्य, पुत्र कारू तथा माता पिसनहरी का कार्य करती थी। समाज में विभिन्न व्यवसाय करनेवाले लोग सामूहिक रूप से 'विश' के अंतर्गत आते थे। याज्ञिक अनुष्ठानों के विकास और राजशक्ति में वृद्धि के कारण ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के प्रभाव में वृद्धि हुई तथा इनके अतिरिक्त शेष 'विश' के अंतर्गत रहे। इसी शब्द से वैश्य शब्द का विकास हुआ। उल्लेखनीय है कि समस्त ऋग्वेद में पुरुषसूक्त के अलावा 'वैश्य' या 'शूद्र' का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। चार वर्णों का उल्लेख करनेवाला यह सूक्त ऋग्वेद में प्रक्षिप्तांश माना गया है।

वर्णोत्पत्ति के सिद्धांत

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था संसार में अद्वितीय स्थान रखती है। इस वर्ण-व्यवस्था के आधार पर भारतीय- सामाजिक जीवन स्तर का ढांचा बना हुआ है। वेदों में वर्ण-व्यवस्था संबंधी सामग्री का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उनके प्रतीकात्मक एवं लाक्षणिक प्रयोग किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचाने में सहायक नहीं होते, जिसके आधार पर तत्कालीन वर्ण-धर्म की व्याख्या की जा सके। जहाँ तक चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति का प्रश्न है, उसका सर्वसम्मत निष्कर्ष खोज निकालना प्रायः असंभव सा है। श्रुतियों और परवर्ती वैदिक ग्रंथों एवं स्मृति-पुराणों में जो विवरण मिलते हैं उनके आधार पर वर्णों की उत्पत्ति के आधार का पता लगाया जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों ने प्राचीन साहित्य में विहित सामग्री के आधार पर जो मत व्यक्त किया है उनमें एकरूपता का अभाव है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विद्वानों ने प्राप्त साक्ष्यों की व्याख्या अलग-अलग दृष्टिकोण से की है। वर्णोत्पत्ति विषयक प्रमुख सिद्धांतों के अंतर्गत वर्ण के प्राग्वैदिक उत्पत्ति का सिद्धांत, विराट पुरूष के विभिन्न अवयवों से वर्णो की उत्पत्ति का सिद्धांत, गुण-कर्म का सिद्धांत, जन्म का सिद्धांत एवं रंगों का सिद्धांत आदि उल्लेखनीय है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के उत्पत्ति-संबंधी सिद्धांत कई प्रकार एवं कई रूपों में विकसित हुए।

1. वर्णोत्पत्ति का प्राग्वैदिक सिद्धांत

कतिपय विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि वर्ण-व्यवस्था का उद्भव वैदिक काल के पूर्ववर्ती समाज में हुआ है। कालांतर में आर्यो ने इस व्यवस्था को परिवर्तित कर विशद् रूप प्रदान किया। सुप्रसिद्ध विद्वान स्लेटर के अनुसार द्रविड़ और प्राचीन मेसोपोटामिया की संस्कृति में पर्याप्त समानता थी तथा अर्ध-सभ्य आर्यों ने द्रविड़ों से ही इसे हस्तगत किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार हिंदू धर्म में काली, शिव, विष्णु, पार्वती एवं गणेश आदि की पूजा मूलतः अनार्यो में प्रचलित थी, उसी प्रकार तत्कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था का भी अस्तित्व था। विद्वान पुरोहित भी आर्य समाज में नहीं थे, द्रविड़ लोग आर्यो के पुरोहित बने और कालांतर में उन्होंने ब्राह्मण वर्ण का सृजन किया। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण वर्ण तथा क्षत्रिय वर्ण पर उसका जो आधिपत्य विद्यमान था, मूलतः द्रविड़ सामाजिक व्यवस्था की देन है।

पार्जिटर महोदय के अनुसार ब्राह्मण धर्म एक आर्य-व्यवस्था नहीं थी। प्रारंभ में ब्राह्मण अनार्यो से संबंधित थे तथा भारत में प्रवेश करते समय वे उन्हीं में समन्वित थे। पार्जिटर महोदय अपने तथ्य को प्रमाणित करने के लिए वैदिक साहित्य के काल-क्रम को उलट दिया। उनके अनुसार वेदों में निहित ऐतिहासिक परंपराएँ महाकाव्यों एवं पुराणों की तुलना में कम प्रमाणित हैं।

इस सिद्धांत के अन्य समर्थक एन.एन. घोष ने दो प्रमुख विचारधाराओं- प्राग् आर्य उद्भव और आर्य उद्भव में समन्वय स्थापित कर वर्ण-व्यवस्था को व्रात्य-उद्भव बताया है। उनके मतानुसार आर्यो में प्राग-आर्य निवासियों और आर्यो के खान-पान में भेद के कारण तथा आपस में विवाह न करने के कारण वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक थे। उन दोनों में धर्मगत भिन्नताएं भी विद्यमान थीं। सामाजिक वर्ग-भिन्नता अनार्यो में पहले ही विद्यमान थी, किंतु आर्यो की उपस्थिति ने इसमें अधिक जटिलता ला दी। इस आधार पर वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हिंदू वर्णाश्रम धर्म-उद्भव में अनार्यो की देन है तथा यह दो प्रतिस्पर्धी वर्ग आर्य ब्राह्मण तथा व्रात्य राजन्य के बीच हुए संघर्ष के वास्तविक परिणाम हैं। अन्य विद्वानों ने भी वर्ण-व्यवस्था को प्रारंभ करने का श्रेय अनार्यो को ही दिया है।

कतिपय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित वर्ण के प्राग् वैदिक उद्भव का सिद्धांत आलोचनात्मक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता है। स्लेटर ने अनार्य धार्मिक परंपरा के आधार पर कुछ देवताओं की पूजा को सामाजिक व्यवस्था का मूल बताया है। यदि यह निश्चित रूप से सिद्ध हो भी जाए कि आर्यो ने इन देवताओं को अनार्यो से ग्रहण किया था, तब भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि उन्होंने वर्ण-व्यवस्था अनार्यो से ही ग्रहण किया था। यदि पार्जिटर महोदय के इस मत को उचित मान लिया जाए कि आर्यो ने अनार्य-संस्कृति से ब्राह्मण धर्म को ग्रहण किया, जिससे उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त हुए, तथापि उनका यह मत समीचीन नहीं

लगता है कि पुराण साहित्य में निहित तथ्य प्राग्वैदिक हैं। घोष महोदय द्वारा प्रतिपादित वर्ण के व्रात्य उद्भव का सिद्धांत भी सभी ऐतिहासिक तथ्यों का समाधान करने में समर्थ नहीं है। किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में ऐसा विश्वास करना कठिन है कि ऋग्वेद के पूर्व ही समाज का वर्णानुगत आधार पर विभाजन हो चुका था एवं वैदिक काल के प्रारम्भ में ही वर्ण-व्यवस्था में जटिलता व्याप्त हो गई थी।

2. परंपरागत सिद्धांत या पुरुषसूक्त का सिद्धांत

वर्णोत्पत्ति का सबसे प्राचीन सिद्धांत दैवी उत्पत्ति या परंपरागत सिद्धांत है। इसे ईश्वरकृत सिद्धांत भी कहा जाता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुषसूक्त में वर्णोत्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार वर्णो की उत्पत्ति विराट पुरूष से हुई थी। इसके अनुसार इस विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण की, राजन्य की बाहु से, वैश्य की जंघा से तथा शूद्र की पैर से उत्पत्ति बताई गई है। यथा-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। ऋग्वेद, 10.90.12

यही वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ अथर्ववेद जैसे अन्य ग्रंथों में भी मिलता है। ऋग्वेद में इस विराट पुरूष को सृष्टिकर्त्ता मान कर यह भी कहा गया है कि उसके सहस्र सिर, सहस्र आँखें तथा सहस्र पैर थे और वह भूत और भविष्य था-

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्रक्षः सहस्रपातः।
पुरुष एवेंद सर्व यदभूतं यच्च भव्यम्।। ऋग्वेद, 10.90.12.1

प्रश्न यह है कि यह विराट् पुरूष आदि क्या है? यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विराट् पुरुष, ब्रह्म और ईश्वर शब्द प्रायः एक ही हैं। ये ऊर्जा की समष्टि के बोधक हैं। यह किसी साकार तत्त्व या शरीरधारी व्यष्टि के लिए प्रयुक्त नहीं हैं। विश्वव्यापी ऊर्जा को ही विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। विराट् शब्द ऊर्जा के तेजोमय रूप का बोधक है। यह ऊर्जा सृष्टि के मूल में है। इससे ही सृष्टि की रचना होती है। यह समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकार की सृष्टि का आधार है। प्रत्येक तत्त्व के अनुसार इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता जाता है। जीव-जगत, वनस्पति-जगत आदि के मूल में यही महासत्ता या महान ऊर्जा काम कर रही है। इस महासत्ता की उपस्थिति जीवन है और इसका अभाव मृत्यु या विनाश है।

विराट् और पुरुष का अर्थ

'विशेषण राजते इति विराट्' अर्थात् जो विशेष रूप से विश्व में प्रकाशित हो रहा है, उसे विराट् कहते हैं। विश्वव्यापी ऊर्जा की समष्टि का नाम विराट् है। इसी प्रकार 'पुरुष' शब्द का अर्थ है 'जो पुर में विद्यमान रहता है' उसे पुरुष कहते हैं। इसके दो अर्थ हैं-1. संसाररूपी पुर में रहनेवाला यह पुरुष परम पुरुष है। इसको ही विराट् पुरुष, ब्रह्म और ईश्वर कहते हैं। 2. शरीररूपीपुर में रहनेवाला यह जीवात्मा है। यह कर्मों के बंधन में फँसता है, कर्मफल भोगता है और जीवन और मृत्यु या आवागमन के चक्कर में पड़ता है। परम पुरुष या ईश्वर ऊर्जा की समष्टि है। यह सर्वज्ञ है, अविनाशी है, अमर है और नित्य है। पुरूष, जीव या मानव व्यष्टि है। यह अल्पज्ञ है, यह जन्म और मरण धर्म वाला है। यह अपने कर्मों से जीवन के बंधन से मुक्त हो सकता है। यह अपने पुरुषार्थ से महाविद्वान, सिद्ध, योगी, महर्षि हो सकता है।

उपर्युक्त वर्णित पुरुषसूक्त के इस अंश का प्रतीकात्मक अर्थ लिया गया है। पुरुष को समाजरूपी शरीर का प्रतीक माना गया है। पुरुष के मुख, बाहु, जंघा और पैर की सादृश्यता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से की गई है। मनुष्य के शरीर में इन चारों अंगों का जितना महत्व है, उतना ही समाज में इन चतुर्वर्णों का। जिस प्रकार किसी भी शारीरिक अंग की उपेक्षा करने से शरीर विकृत हो जाता है उसी प्रकार किसी भी सामाजिक अंग-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की उपेक्षा करने से समाज का सुचारू रूप से संचालन कठिन हो जाता है। अतः एक सुव्यवस्थित समाज के लिए इन चतुर्वर्णो का होना अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तुस्थिति यह है कि उनमें से किसी का अधिक और किसी का कम महत्व है, किंतु अपनी-अपनी जगह सब का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण का सृजन विराट् पुरुष के मुख से बताना उनके शिक्षक के रूप का परिचायक

है, बाहु पराक्रम एवं शक्ति का प्रतीक होने के कारण क्षत्रिय वर्ण को शस्त्र धारण करने तथा जन-रक्षा करने के रूप में, जंघा से उत्पन्न होने के कारण वैश्य वर्ण को कठिन परिश्रम करने के रूप में तथा पैर से उत्पन्न होने के कारण शूद्र वर्ण को शेष तीनों वर्णों की सेवा-शुश्रुषा करने के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

महाभारत में दैवी सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए, ऋग्वेद की भाँति ही वर्णो की उत्पत्ति बताई गई है। अंतर केवज इतना है कि इसमें विराट् पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु (जंघा) से वैश्य और तीनों वर्णों के सेवार्थ पद (पैर) से शूद्र का निर्माण हुआ। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि उन्होंने चारों वर्णो की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की है तथा वे ही उनके कर्त्ता और विनाशक हैं-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।।

परवर्ती साहित्य में भी वर्णो की उत्पत्ति दैवी मानी गई है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः मृख, बाहु, जंघा और पैर से उत्पन्न किया। पुराणों में भी वर्णो की उत्पत्ति को ईश्वरकृत बताया गया है तथा उसके महत्व को यथावत् स्वीकार किया गया है। विष्णु पुराण के अनुसार भी भगवान विष्णु के मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उद्‌भूत हुए-

त्वन्मुखात् ब्राह्मणास्तवतो बाहोः क्षत्रमजायत।
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पदभ्यां समुद्‌गताः।।

इसी प्रकार का उल्लेख मत्स्य, ब्राह्मण तथा वायु पुराण में भी मिलता है।

कतिपय विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व ऋग्वैदिक काल में था, किंतु अन्य विद्वानों द्वारा पुरुषसूक्त को बाद की (क्षेपक) रचना स्वीकार किये जाने से यह ऋग्वैदिक सामाजिक वर्गीकरण का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। कुछ अन्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्ण जैसी सामाजिक व्यवस्था ऋग्वैदिक काल में विद्यमान नहीं थी, अपितु यह दीर्घकाल के बाद विकसित हुई थी। रिजले भी पुरूषसूक्त को परवर्ती मानकर इसमें उल्लिखित सामाजिक वर्गीकरण को ऋग्वैदिक युगीन नहीं बल्कि उत्तरकालीन मानते हैं।

इस सिद्धांत की समालोचना करते हुए यह विवेचनीय है कि विभिन्न शारीरिक अंगों से चतुर्वर्णोत्पत्ति की कल्पना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काल्पनिक है। इसीलिए इस मत को तर्कसंगत नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसका उल्लेख मात्र प्रतीकात्मक रूप में मान्य हो सकता है।

3. वर्णोत्पत्ति का जन्म संबंधी सिद्धांत

वर्णोत्पत्ति के जन्म संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन प्राचीन साहित्य से उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार वर्णो की उत्पत्ति जन्म के आधार पर हुई है। इस सिद्धांत के अनुसार ब्राह्मण परिवार में जन्म लेनेवाला व्यक्ति अयोग्य और अज्ञानी होने पर भी पूजनीय एवं श्रेष्ठ माना जाता था। इस प्रकार वर्ण का आधार जन्म माना गया। महाकाव्यों के काल तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था का आधार पूर्णतः जन्म हो गया। वैदिक काल में वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच ब्राह्मणत्व और पौरोहित्य को लेकर मतभेद एवं संघर्ष छिड़ा। अंततः विश्वामित्र, जो कर्म से ब्राह्मण थे, किंतु क्षत्रिय परिवार में जन्मे होने के कारण क्षत्रिय ही माने गये। परशुराम ने भी क्षत्रियोचित कार्य किया था, किंतु वे ब्राह्मण ही माने गये। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के वर्ण का निर्धारक तत्व जन्म था। महाकाव्य काल में इस व्यवस्था के आधार के रूप में जन्म की मान्यता पूर्ण रूपेण स्थापित हो गई थी। महाभारत में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। द्रोणाचार्य तथा उनके पुत्र अश्वत्थामा का कर्म क्षत्रिय वर्ण का था, किंतु वे जन्मना ब्राह्मण थे, इसलिए वे ब्राह्मण ही माने गये। इसके विपरीत युधिष्ठिर में ब्राह्मणोचित गुण थे, लेकिन जन्म के आधार पर उन्हें क्षत्रिय ही कहा गया। कर्ण में भी क्षत्रियोचित गुण विद्यमान थे, लेकिन वह अंततः सूत ही कहा गया, जैसा कि द्रौपदी के कथन से कि,

'कर्ण सूत है, उसके साथ मैं परिणय नहीं करूँगी' स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि वर्णोत्पत्ति का आधार जन्म था।

इस सिद्धांत के विषय में आलोचनात्मक आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्णो का निर्धारक तत्व जन्म अवश्य था, परंतु यह कहना असंगत प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति मात्र जन्म के आधार पर हुई है।

4. वर्ण अथवा रंग का सिद्धांत

प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वर्णोत्पत्ति का आधार 'रंग' भी था। काठक संहिता में राजन्य एवं वैश्य के रंग को क्रमशः धूम्र तथा शुक्ल बताया गया है। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण के रंग को शुक्ल बताया गया है। वर्णोत्पत्ति के इस सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या महाभारत के शांतिपर्व में मिलती है। इसके अनुसार विभिन्न वर्णो का रंग क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला था। यथा-

ब्रह्मणानां तु सितो क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्रणामसितस्तथा।। महाभारत, शान्तिपर्व,188.5

विभिन्न वर्णो के रंगों का संबंध सम्भवतः उनके गुणों से था। जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व के उपर्युक्त उद्धरण पर टीका करते हुए नीलकंठ ने सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का प्रतीक क्रमशः सफेद, लाल, और काला माना है। विभिन्न वर्णो के लिए निर्दिष्ट रंगों के औचित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है। श्वेत रंग शान्ति, स्वच्दता एवं प्रकाश का प्रतीक है। इसी से ब्राह्मण वर्ण के रंग को सफेद बताया गया है तथा उनका प्रमुख कर्तव्य ज्ञान से संबंधित बताया गया। इसी प्रकार लाल रंग तीक्ष्णता, क्रिया प्रधानता तथा रक्त का परिचायक होने से यह रंग क्षत्रिय के लिए उपयुक्त माना गया और उनका प्रमुख कार्य युद्ध करना समझा गया। पीला रंग धन के रूप में स्वर्ण का प्रतीक होने से यह रंग कृषि, पशुपालन तथा व्यापार आदि से धनार्जन करने वाले वैश्य वर्ण को यह रंग प्रदान किया गया। आलस्य, क्रियारहित तथा अंधकार सूचक काला रंग का संबंध तमोगुण से होने के कारण यह रंग (काला) शूद्र के लिए उपयुक्त माना गया, जिनका कार्य तुच्छ समझा गया। इस सिद्धांत का अनुमोदन करते हुए एन.के. दत्त महोदय ने यह मत व्यक्त किया है कि मिश्रण को बचाने के उद्देश्य से रंग के द्वारा शुद्धता प्राप्त किये गये वर्ण ने स्वभावतः सामाजिक स्तर में प्राथमिकता प्रदान की। इस प्रकार उन्होंने रंग को ही वर्ण-व्यवस्था का मूल माना है।

ऐतिहासिक आधार पर वर्णो की उतपत्ति का आधार रंग मानना कठिन है। यदि आर्यो तथा अनार्यो के लिए सफेद और काला रंग प्रयुक्त हुआ माना जाय तो लाल और पीले रंग की व्याख्या किस संदर्भ में की जाय, इसकी पुष्टि ;ग्वेद से नहीं होती। प्रारम्भ में रंग गौरवर्णीय आर्य और प्रायः कृष्णवर्णीय अनार्य के भेद का द्योतक था, न कि विभिन्न वर्णो के विभाजन का। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में कुछ वैदिक स्त्रोतों के रचयिता ऋषि कण्व का उल्लेख काले रंग के रूप में मिलता है। इससे सभी काले रंग के व्यक्ति की गणना शूद्र वर्ण के अंतर्गत करने की सामान्य धारणा की पुष्टि नहीं होती। वस्तुतः इस सिद्धांत की व्याख्या महाभारत के आधार पर उस समय की गई जब कि तत्कालीन समाज में अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। अतः उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए रंग को वर्णोत्पत्ति का मूल कारण नहीं माना जा सकता है, वरन् इस व्याख्या को यदि एकांगी कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा।

5. वर्णोत्पत्ति का गुण संबंधी सिद्धांत

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार गुण माना गया है। महाभारत में वर्णोत्पत्ति के गुण-संबंधी सिद्धांत के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है। इन गुणों को अनेक भागों में विभक्त किया गया है। प्रकृतितः गुण के तीन भेद- सत्व, रज और तम थे। इन गुणों की विशेषताओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सत्व गुण को अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, दोषरहित, ज्ञान प्रदाता एवं सांसारिकता से मुक्त करनेवाला माना गया है। रजोगुण के प्रभाव स्वरूप मनुष्य अनुरक्त होता हुआ अपने कामों को संपादित करता है। तमोगुण से अज्ञानता की उत्पत्ति

होती है। इससे प्रभावित व्यक्ति में भ्रम, आलस्य, प्रमाद एवं निद्रा जागृत होती है। इस प्रकार इन तीनों गुणों को क्रमशः सुख, गुण कर्म तथा अज्ञानता का द्योतक माना गया है-

सत्वं रजस्तमश्चौव त्रीविन्द्यादातमनो गुणान्।
यैर्व्याप्यिमान्स्थितो भवान्महान्सर्वानशेषतः।। मनु. 12.24

इन गुणों की विशिष्टता के अनुसार सत्वगुण की तुलना में रजोगुण निम्न है और रजोगुण की तुलना में तमोगुण निम्न है। अतः सत्वगुण ही सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुरूप विभिन्न वर्णो के लिए अलग- अलग गुण निर्देशित किये गये हैं। जिसमें सत्वगुण विद्यमान था उसे ब्राह्मण माना गयाय जिसमें रजोगुण विद्यमान था उसे क्षत्रिय, जिसमें रजो और तमो दोनों गुणों का मिश्रण था, उसे वैश्य तथा जिसमें केवल तमोगुण ही विद्यमान था, वह शूद्र माना गया। उपर्युक्त मीमांसाओं से स्पष्ट आभास होता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में गुणात्मक सिद्धांत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

मनु ने भी तीन गुणों की चर्चा करते हुए कहा है कि ज्ञान सतोगुण का, अज्ञान तमोगुण का और द्वेष रजोगुण का लक्षण है। इन गुणों का रूप सर्वभूताश्रित रहता है। जो आत्मा में प्रीतियुक्त, शान्त, विमल, प्रकाशयुक्त दिखायी पड़े, वही सत्वगुण है। जो गुण आत्मा के हेतु दुःखयुक्त, अप्रीतिकर एवं विषयात्मक हो, वही रजोगुण है। जो गुण मोहयुक्त, अव्यक्त, विषयात्मक, अतर्कनीय एवं अविज्ञेय हो, वही तमोगुण है-

सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वैषौ रजः स्मृतम्।
एतद्वयाप्तिदेतेषां सर्वभूवश्रितं वपुः।।
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धात्मा सत्जं तदुपधारयेत्।। मनु., 12.26, 12.27

मनु ने इन तीनों गुणों के फलों का भी उल्लेख किया है कि वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धर्मकार्य एवं आत्मचिंता ये लक्षण सतोगुण के हैं जो ब्राह्मणों के स्वभाव के अनुरूप उन्हीं के लिए उपयुक्त माना गया है। मनु के अनुसार फलेच्छायुक्त कर्म, अधैर्य, असत्कार्याचरण एवं विषयोपभोग ये लक्षण रजोगुण के हैं। इसीलिए इसे क्षत्रियों के लिए उपयुक्त माना गया। मनु का कथन है कि लोभ, स्वप्न, असन्तोष, क्रूरता, नास्तिक्य, दुराचार, प्रमाद ये लक्षण तामस हैं। रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रित लक्षण वैश्य के लिए उचित बताया गया। परंतु मात्र तमोगुण के फल शूद्रों को स्वभावनुरूप होने के कारण उन्हीं के लिए उचित माना गया।

मनु ने इन त्रिगुणों की तुलनात्मक स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि कामाधिक्य तमोगुण में, अर्थेच्छाधिक्य रजोगुण में तथा धर्माधिक्य सतोगुण में होता है। इनमें एक से एक यथोत्तर श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र मनु का कथन है कि सात्विक मनुष्य देवत्व को, राजस मनुष्यत्व को तथा तिर्यग्योनि को तामस प्राप्त होता है। उपर्युक्त साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल आधार गुण है। इस तथ्य की पुष्टि विष्णु पुराण में उपलब्ध पराशर एवं मैत्रेय के संवाद से हो जाता है। अंत में पराशर ने मैत्रेय से साररूप में यह निष्कर्ष बताया है कि सृष्टि-रचना के इच्छुक ब्रह्मा ने सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण को मुख से, रजोगुण प्रधान क्षत्रिय को वक्षस्थल से, रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान वैश्य को जंघा से और तमोगुण प्रधान शूद्र की पद से उत्पन्न किया।

इस सिद्धांत का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः गुण का सिद्धांत वर्ण-व्यवस्था को आदर्श सामाजिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए विकसित किया गया है, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी प्रासंगिकता संदिग्ध है।

6. वर्णोत्पत्ति का कर्म संबंधी सिद्धांत

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभाजन का मुख्य आधार कर्म माना गया। वर्णो का विभाजन व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप कर्म पर आश्रित माना गया है। जे. नस्फील्ड का कथन है कि मानव की कार्यप्रवृतियों का स्वाभाविक इतिहास भारतीय वर्णो के सृजन और परंपरा का मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

प्रारंभ से ही ज्ञान, तप, यज्ञ एवं धर्मनिष्ठ कार्यों में रूचि रखनेवाले वर्ग को ब्राह्मण वर्ण के अंतर्गत रखा गया। जिनका प्रमुख कार्य अध्ययन, अध्यापन, भजन, भाजन, दान आदि था। इसी प्रकार प्रशासनिक संचालन, राज्य-व्यवस्था, राष्ट्र-सुरक्षा से संबंधित कर्म करनेवाले को राजन्य (क्षत्रिय) वर्ण माना गया है। इसी के विपरीत आर्थिक धनोपार्जन हेतु पशुपालन, कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार की वृत्ति अपनानेवाले को वैश्य तथा प्रथम तीन उच्च वर्णो की परिचारिक वृत्ति करने वाले को समाज का निम्न वर्ण शूद्र माना गया। अत: स्पष्ट है कि कर्मानुसार चार वर्णो को सामाजिक मान्यता प्रदान की गई।

वस्तुस्थिति यह है कि कर्म के इस सिद्धांत के मूल में धार्मिक मान्यताओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। तदनुरूप कर्म-फल दर्शन के साथ पुनर्जन्म की भावना प्रबल हुई। परिणाम स्वरूप यह स्वीकार किया जाने लगा कि किये गये कर्म के आधार पर मनुष्य का जन्म होता है। कर्म के इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का वर्तमान जीवन पूर्वजन्म में किये गये कर्म का परिणाम है। ऐसी स्थिति में अच्छा कर्म करनेवाले का जन्म उच्च वर्ण में तथा बुरा कर्म करने वाले का जन्म कुत्ता, शूकर और चाण्डाल जैसी अशुभ योनियों में होती है। अत: मनुष्य कर्मानुसार विभिन्न वर्णगत वंशों में उत्पन्न होता है।

इस तथ्य के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का गंभीरता से अध्ययन करना अप्रासंगिक न होगा। सर हर्बर्ट रिजले के मतानुसार भारत में पदार्पित आर्य तथा यहाँ के आदिवासियों में पारस्परिक भिन्नताएँ थीं। ऋग्वैदिक काल में 'आर्य' तथा 'दास' नामक दोनों वर्णो के विभाजन का आधार कर्ममूलक था। उनके कर्म एक दूसरे से सर्वथा पृथक थे। ऋग्वेद में यह उद्धरण मिलता है कि समस्त विश्व को आर्य बनाओ (कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्)। इस उद्धरण के अनुसार संसार के सभी लोगों को आर्य बनाने के लिए कर्म को मूल आधार मानना पड़ेगा। यह कार्य करने अर्थात् दोनों के अंतर को समाप्त करने के लिए जन्मगत आधार निष्प्रभावी होगा।

उपनिषद् साहित्य में भी कर्म के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। मुंडकोपनिषद् से ज्ञात होता है कि कर्तव्य कर्मो का सम्पादन अमृतत्व का साधन है। इसी उपनिषद में अन्यत्र व्यक्ति को ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार ईशोपनिषद में भी कहा गया है कि ज्ञानयुक्त कर्म अपूर्णता को दूर कर अमृतत्व को प्राप्त करनेवाला होता है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। ईश उप., 9.11

बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने कर्मफल की चर्चा करते हुए कहा है कि पाप-कर्म का फल पाप होता है और पुण्य-कर्म का फल पुण्य। एक स्थान पर कृष्ण ने कहा है कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर वर्ण उत्पन्न किया है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टिं गुण्कर्मविभागश:।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। गीता, 413

महाभारत के शान्तिपर्व में यह वर्णित है कि सर्वप्रथम केवल ब्राह्मण ही समाज में थे, बाद में स्ववृति थी। भिन्ता के कारण समाज अनेक वर्णो में विभक्त हो गया। महाभारत के अनुसार सत्य, धर्म, नैतिकता एवं सदाचरण आदि कर्मों का अनुपालन करने वाले ब्राह्मण माने गये, काम और भोग के प्रेमी, तीक्ष्ण, क्रोधी, स्वधर्मत्यागी, साहसिक, क्षत्रिय, स्वधर्मच्युत, पशुपालन में लिप्त, पीत वर्ण वाले वैश्य तथा हिंसा प्रिय, अपवित्र, कालेरंग के किसी भी उपाय से भरण-पोषण करनेवाले शूद्र माने गये-

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा: क्रोधना: प्रिय साहसा:।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजा: क्षत्रतां गता:।। महा. शा.प., 118.11

उपर्युक्त उद्धरण का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णगत समूहों का विकास कर्मगत आधार पर हुआ। इस तथ्य की पुष्टि में कौशिक ;षि से संबंधित एक वृतांत उल्लेखनीय है। तदनुसार कौशिक मुनि द्वारा विद्वान एवं ज्ञानी व्याध से मांस विक्रय करने के कारण पूछने पर व्याध ने उत्तर दिया- 'हे! द्विज, मैं अपने वर्ण का विहित कर्म कर रहा हूँ। अत: मैं अपने उस धर्म का अनुशीलन

कर रहा हूँ जिसके लिए ब्रह्मा ने मुझको उत्पन्न किया है। धर्मनुसार अपने कर्म का अनुगमन करके ही अपने से उच्च एवं निम्न वर्ण वाले मनुष्यों की सेवा कर सकने में समर्थ हो सकता हूँ। भाग्य शक्तिशाली है। अतः पूर्व जन्म के कर्मों और परिणामों को समाप्त करना असंभव है। इस जन्म में जो मैं कर्म कर रहा हूँ, वह पूर्व जन्म के कर्मों का ही परिणाम है। मोक्ष उसी को प्राप्त होता है जो अपने धर्म का यथोचित पालन करता है।' इस उद्धरण से वर्णोत्पत्ति के कर्मगत सिद्धांत का समर्थन हो जाता है।

धर्मसूत्रकारों ने भी वर्णोत्पत्ति के संदर्भ में कर्म की महत्ता स्वीकार किया है। गौतम के अनुसार ''अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवन-यापन करते हैं, मृत्यु के बाद अपने सत्कर्मो का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में पुनः जन्म लेते हैं, जो सुन्दरता, दीर्घ जीवन, वेद-ज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते हैं। जो इसके विपरीत ढंग से कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते है और पुनः विभिन्न बुरी दशाओं में उत्पन्न होते हैं।'' आपस्तम्ब ने कर्म के महत्व के साथ ही पापयुक्त कर्मो के दुष्परिणामों पर प्रकाश डालते हुए मत व्यक्त किया है कि पापी लोग निम्न जातियों में जन्म लेते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के जीवन में सत्कर्म का विशेष स्थान है क्योंकि सत्कर्म के अनुरूप ही मनुष्य का जन्म उच्च वंश एवं निम्न वंश में संभव है।

उपर्युक्त संदर्भ में बौद्ध ग्रंथ मज्झिम निकाय में यह वर्णित है कि, 'हे आश्वलायन! क्या तुम जानते हो कि यवन, कंबोज और दूसरे समीपवर्ती देशों में आर्य और दास दो ही वर्ण होते हैं। दास आर्य हो सकता है और आर्य दास।' इस कथन से यह इंगित होता है कि कर्मगत आधार पर कोई व्यक्ति दास या आर्य हो सकता है। कालांतर में समाज का चतुर्वर्णीय विभाजन पूर्णतः कर्म पर आधृत हो गया, जिससे उनके पृथक कर्म निर्दिष्ट किये गये। ब्रह्मांड पुराण में वर्णोत्पत्ति के कर्म संबंधी सिद्धांत का उल्लेख मिलता है कि पूर्वजन्म के कर्मो के परिणाम स्वरूप ही चतुर्वर्णों की उत्पत्ति हुई। अतः उपर्युक्त साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल आधार कर्मगत था।

वर्णोत्पत्ति संबंधी कर्मगत सिद्धांत के संबंध में कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत से जनसाधारण में धार्मिक बातों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, परंतु यह वर्ण जैसी सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति, धारणा स्पष्ट करने में असमर्थ रही है।

हिंदू वर्ण-व्यवस्था के उद्‌भव के संबंध में विवेचित सिद्धांतों का आलोचनात्मक दृष्टि से समीक्षा करना अप्रासंगिक न होगा। वस्तुतः यह भारतीय समाज की एक जटिल व्यवस्था है। प्राग्वैदिक सिद्धांत का मूलभूत आधार भी प्रबल नहीं है जिससे वर्णों की उत्पत्ति में उसका महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा। पुरूष के अंगों से ही चतुर्वर्णो की उत्पत्ति को बताना दन्तकथा है। उससे हमें यद्यपि समाज के वर्णो की विषमता का आभास अवश्य होता है। किंतु इसकी उत्पत्ति पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। विभिन्न शारीरिक अंग जिनसे विभिन्न वर्णो की उत्पत्ति हुई, वे उनके व्यवसाय के प्रतीक अवश्य लगते हैं परंतु इसका उद्‌गम कैसे हुआ, यह अज्ञात है। इसके अतिरिक्त पुरूषसूक्त को अनेक विद्वानों ने वेदों से बाद का माना है। यद्यपि आदर्श सामाजिक विभाजन के दृष्टिकोण से गुण, कर्म एवं जन्म का सिद्धांत आंशिक महत्व अवश्य रखता है तथापि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति में इससे विशेष ऐतिहासिक तथ्य का ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। वर्णोत्पत्ति के रंग के सिद्धांत की व्याख्या का आधार ग्रंथ महाभारत है जबकि वर्णोत्पत्ति के ऐतिहासिक तथ्य महाभारत के पूर्वकालीन ग्रंथों में निहित है। अतएव महाभारत काल में रंग के आधार पर इस व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल ढूँढ़ना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।